

## सामाजिक विघटन और पाठ्य पुस्तकें

उ.प्र. बेसिक शिक्षा परिषद, उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा परिषद की पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन

□ शकील सिद्दीकी

शिक्षा चिंतक कृष्ण कुमार के अनुसार “पाठ्य पुस्तकें अपने समय के सामाजिक-राजनैतिक वातावरण से उपजती हैं। इस प्रकार पाठ्य पुस्तकें अपने निर्माण के समय की आकांक्षाओं व बेचैनियों का बिम्ब भी होती हैं। वह आगे कहते हैं: “शिक्षा जिन विविध तरीकों से विद्यार्थियों की आत्म छवि को आकार देती है, उनमें से एक तरीका पाठ्यक्रम में ज्ञान के पुनर्योजन का होता है। नई पीढ़ी को क्या पढ़ाया जाये, इस बात के फैसले के आधार पर ही उपलब्ध ज्ञान में से कुछ का चुनाव और पाठ्य सामग्री निर्धारित की जाती है। (जैसे पाठ्य पुस्तक में उसका प्रस्तुतीकरण किया जाता है।) भारतीय संदर्भ में पाठ्य पुस्तकें केवल एक प्रकार की पाठ्य सामग्री ही नहीं रही है बल्कि ऐसी एक मात्र सामग्री रही है जिसका उपयोग अध्यापक कर सकता है। इसलिए पाठ्य पुस्तकों में ज्ञान की प्रस्तुति हमारे लिए और भी महत्वशाली है।” (साम्प्रदायिकता के स्रोत, पृष्ठ 34)

शिक्षा सामाजिक विकास का केन्द्रीय तत्व है। शिक्षा मनुष्य के बौद्धिक उत्थान की व्यवस्था करती है तथा ज्ञान के उपलब्ध स्रोतों तक उसकी पहुंच संभव बनाती है। वह युग का बोध तो देती ही है, आत्मबोध भी देती है। बहुत बार शिक्षा ज्ञान के अनुपलब्ध अप्राप्य स्रोतों का अन्वेषण-आविष्कार भी करती है। वह सामाजिक संवाद के आधार रचते हुए, अपरिचय के गढ़ों को तोड़ती है। यदि वह निहित स्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं बनती तो विवेक को धारदार बनाने के सभी अवसर उसके पास होते हैं। यह विद्रूप विडम्बना भी उसके साथ हो सकती है कि वास्तविकताओं के सटीक उद्घाटन का सबल माध्यम होने के साथ ही वह कभी-कभी झूठ के व्यापक प्रसार को विश्वसनीयता भी देती है। पाठ्यक्रम यहां अस्त्र का काम करता है। निश्चय ही शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम का अवलम्ब आवश्यक नहीं। वह किसी खास शिल्प या संरचना से मुक्त हो सकती है। पर शिक्षा यदि कुछ विशेष उद्देश्यों, इरादों के लिए दी जा रही है, यदि वह कहीं से संरक्षित है या उसकी पृष्ठभूमि में कोई खास तंत्र सक्रिय है तो उसका संरचनागत होना आवश्यक है। यह संरचना ही पाठ्यक्रम है।

इस प्रकार पाठ्यक्रम शिक्षा की सतत विकासशील प्रक्रिया का महत्वपूर्ण उपादान हैं। हमने अपने अध्ययन के लिए उत्तर प्रदेश में रायज (प्रचलित) जिन दो विशिष्ट शिक्षा धाराओं को आधार बनाया है, उनके पाठ्यक्रमों के निर्माण में सक्रिय दृष्टिकोण इस स्थिति का बेहतर उदाहरण है -

1. उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा परिषद, उ. प्र. माध्यमिक शिक्षा परिषद।

2. राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शिक्षा प्रकोष्ठ ‘विद्या भारती’ के अन्तर्गत चलने वाले ‘सरस्वती शिशु मन्दिर’।

इसके साथ ही हमने एक अन्य लेख में मदरसा शिक्षा पद्धति पर तैयार किया है। (यहां केवल पहला अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है - सं.) शिक्षा की ये नीतियां मिले-जुले विभिन्न धार्मिक-जातीय समूहों की सक्रिय उपस्थिति, विविध रूपी अनुभवों वैचारिक सैद्धांतिक, विश्वासगत संघर्षों से संपन्न विविधतापूर्ण उत्तर भारतीय समाज के लिए कितनी रचनात्मक, कितनी घातक है तथा वह विघटन व निर्माण की सोच व प्रवृत्तियों को कितना बल देने वाली हैं, यह अलग और लम्बी बहस का विषय है, जिसकी कुछ छवियां आगे अपनी प्रतीति देंगी। संक्षेप में देखें तो विभिन्न शिक्षा धाराओं की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के नियामक सिद्धांत इस तरह हैं।

यहां यह याद कर लेना प्रासंगिक होगा कि उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा परिषद के पाठ्यक्रम राष्ट्रीय शिक्षा नीति तथा राजकीय मानविकी और सामाजिक विज्ञान विभाग, इलाहाबाद के फैसलों से प्रभावित होते हैं। यहां भी यह बहस दीगर है कि इन सबके बावजूद पाठ्यक्रम हेतु सामग्री की रचना, चयन और प्रस्तुति में सक्रिय दृष्टिकोण में कोई बुनियादी अन्तर आ पाता है या नहीं। बहस संभव है, इस बहस की भी कुछ छवियां आगे दिखाई पड़ेगी। यहां यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि राज्य के शिक्षा विभाग के अधीन चलने वाले

स्कूलों में कक्षा 8 तक की पुस्तकें 'बेसिक शिक्षा परिषद' तैयार कराती है। 9 वी व 10 वी कक्षा के पाठ्यक्रम की तैयारी उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा परिषद के अधीन होती है। बेसिक शिक्षा परिषद उत्तर प्रदेश ने सन् 1993 में पाठ्य पुस्तकों के प्रति अपना दृष्टिकोण इस तरह व्यक्त किया :

“शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि विविध प्रकार की शिक्षा सामग्रियों का विकास होता जा रहा है तथापि पाठ्यपुस्तकों का महत्व कम नहीं किया जा सकता। हमारे प्रदेश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के दस सामान्य बिन्दुओं के अनुसार कक्षा 1 से 8 तक की पाठ्यचर्या का विकास तथा पाठ्यपुस्तकों का प्रणयन किया गया है। पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से हम न केवल विद्यार्थियों को अपितु शिक्षकों को भी नवीन संकल्पना से अवगत करा सकते हैं।”

(ज्ञान भारती, भाग-5 के प्राक्कथन से) 1997 में इस कथन में संशोधन किया गया।

“पाठ्य पुस्तक शिक्षा का एक मुख्य उपादान है। यह विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन, कौशल विकास और अभिरुचि निर्माण का एक प्रमुख साधन है। इसके माध्यम से शैक्षिक उद्देश्यों और आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। किन्तु शिक्षा एक सतत विकासशील प्रक्रिया है। बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुरूप शिक्षा में भी नये विचारों और दृष्टिकोणों का आविर्भाव होता रहता है। इस कारण पाठ्य पुस्तकों की निर्माण-प्रक्रिया में भी सतत संशोधन परिवर्तन आवश्यक है।

(ज्ञान भारती भाग - 3, 1997, के प्राक्कथन से)

परन्तु, 97 में सन 91 तथा उससे पहले के इस संकल्प को छोड़ दिया गया है -

“इनकी (पाठ्यपुस्तकों) विषय सामग्री छात्रा-छात्राओं के ज्ञान का संवर्द्धन करने के साथ ही उनमें अपेक्षित योग्यताओं, दक्षताओं, प्रवृत्तियों तथा मूल्यों का विकास करें, जिससे वे देश व समाज के लिए उपयोगी नागरिक बन सकें।”

जबकि आर एस एस के शिक्षा प्रकोष्ठ विद्या भारती ने सरस्वती शिशु मन्दिर की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोण के सक्रिय हस्तक्षेप को स्वीकार किया है।

“शिक्षा के उद्देश्य एक अच्छे मानव का निर्माण है और जब ऐसा करने का व्रत लेकर हम अध्यापन कार्य में जुटते हैं, तब हमारा विशेष दृष्टिकोण किसी विषय विशेष की पुस्तक तक ही सीमित नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में चरित्र निर्माण करने एवं अपनी संस्कृति से जोड़ने वाली पाठ्य सामग्री केवल भाषा अध्यापन के द्वारा ही हम

बच्चों को नहीं देते। सभी विषयों की सामग्री में वह दृष्टि होनी चाहिये। कुछ लोगों की यह धारणा है कि कतिपय विषय जैसे विज्ञान, भूगोल आदि ऐसे विषय हैं, जिनके अध्यापन में तथ्यों की जानकारी कराना ही अभीष्ट है। लेकिन वही नहीं हैं। वे भ्रमित हैं।” (प्रदेश दर्शन, कक्षा चतुर्थ की भूमिका से)

और वास्तव में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की “शिक्षा पर प्रभुत्व पाओ, दिमागों पर कब्जा करो” अभियान के अन्तर्गत चलने वाली शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम में काफी हद तक इस लक्ष्य को पाने की कोशिश की गई है। विज्ञान व गणित जैसे विषयों के अध्यापन में भी धार्मिक संस्कारों के हस्तक्षेप को संभव बनाने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप उनके इस कथन में कुछ खास विरोधाभास उपस्थिति बना लेते हैं।

“विषयवस्तु की जानकारी कराना महत्वपूर्ण है। उसका महत्व किसी भी प्रकार कम करके आंका नहीं जा सकता। परन्तु यह भी तो सही है कि हम बच्चों को ज्ञानकोष या संगणक मात्र ही तो नहीं बनाना चाहते। अपनी मातृभूमि तथा उसके पर्वतों, नदियों, शिखरों और वनों के प्रति सम्मान का भाव जगाने वाली तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत के संबंध में आदरपूर्ण जानकारी देने का दायित्व निभाने से भूगोल बच कैसे सकता है? इसे पढ़ते समय इन चीजों को बच्चों में कूट-कूट कर भरने का कोई भी अवसर यदि छोड़ते हैं तो यह सही नहीं होगा।”

और वास्तव में आर.एस.एस. के स्कूलों की बात तो छोड़िये ईसाई मिशनरियों, अनेक मदरसों तथा राज्य सरकार के शिक्षा विभाग के अधीन अनेक मदरसों तथा राज्य सरकार के शिक्षा विभाग के अधीन चलने वाले विद्यालयों-पाठशालाओं में भी इतिहास, भूगोल, साहित्य, भाषा, विज्ञान सभी विषयों का इस्तेमाल छात्रों में कुछ खास विचार कूट-कूट कर भरने के लिए किया है। यह की प्रक्रिया लगभग सौ दो सौ वर्षों से जारी है। निःसंदेह आर. एस. एस. की इस दृष्टि का प्रभाव दूर तक गया है जिससे इस्लाम व मुसलमानों के खिलाफ मिथ्या धारणायें मजबूत हुई हैं। यह कूट कूट कर भरना दरअसल अध्यापन कार्य में लगे गुरुजनों के मौखिक अभियान का हिस्सा है, बच्चों को पढ़ते समय जो बताते-बतियाते हैं।

यकीनी तौर पर इस्लाम व मुसलमानों के बारे में विरोध का भाव पूरे उत्तर भारतीय समाज में गहरे तक व्याप्त है जिसके प्रभाव से शिक्षक वर्ग अपने को बचाये नहीं रख पाया है। यानी कि सामान्य नागरिक के समान वो भी इसकी चपेट में है। शिक्षक अगर भाजपा, पूर्व में भारतीय जनसंघ का समर्थक या कार्यकर्ता है, अथवा आर एस एस से संबद्ध है तो वह इस विरोध भाव को, मिथ्या धारणाओं को व्यापकता व आवेग देने को राष्ट्रीय कर्तव्य समझता

है, इस प्रक्रिया में उसका दंभ बार-बार अभिव्यक्त होता है ।

“मुझसे अधिक कौन जानता होगा मुसलमानों के बारे में । इन पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, ये बहुत क्रूर होते हैं ।”

और यह हमारे समय का वीभत्स सच है कि इस तरह की संबद्धता वाले लोगों को कम से कम शिक्षा संस्थानों में आसानी से नौकरी मिल जाती है । भाजपा सरकारें तो समूचे शिक्षा तंत्र एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग में ऐसे लोगों के हस्तक्षेप को व्यापक बनाने में हर स्तर पर प्रयासरत रही है । आज तो स्थिति अधिक भयानक व चुनौतीपूर्ण हुई है । इस प्रभुत्व को नया शिखर प्राप्त हुआ है ।

इसका दूसरा पक्ष अधिक विद्रूप है । सेना और पुलिस के बड़े अधिकारी, न्यायाधीश, शिक्षा विभाग से सेवानिवृत्त होने वाले लोग बिना किसी संकोच या द्वन्द्व के भाजपा में शामिल हो रहे हैं, उसके टिकट पर चुनाव लड़ रहे हैं और यह कि सरस्वती शिशु मंदिर का पाठ्यक्रम बनाने में शिक्षा विभाग के अधिकारियों का काफी सहयोग रहता है । श्री गोविन्द नारायण मिश्र जो बेसिक शिक्षा परिषद के निदेशक रहे, सेवानिवृत्ति के उपरान्त घोषित रूप से आर एस एस की शिक्षा समिति से संबद्ध हो गये । सेवाकाल में उनकी सहानुभूति किसके साथ रही होगी, अनुमान लगाया जा सकता है । यह गोविन्द नारायण मिश्र का ही वक्तव्य है कि -

“विद्यालय में बच्चे का जो भी समय व्यतीत होता है, उसमें से एक भी क्षण ऐसा नहीं होना चाहिए, जब हमारा लक्ष्य हमारे सामने न रहे ।”

कक्षा चतुर्थ के लिए स्वीकृत ‘हमारा उत्तर प्रदेश’ की भूमिका स्थिति की भयावहता को उजागर करती है :

“इस पुस्तक के तैयार करने में लेखक मण्डल के अतिरिक्त श्री गोविन्द नारायण मिश्र, पूर्व शिक्षा निदेशक उत्तर प्रदेश, श्री कान्ति मोहन, साकेत महाविद्यालय, श्री नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी, पूर्व रजिस्ट्रार, परीक्षाएं, उ.प्र. आदि का अमूल्य परामर्श एवं मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ है । हम उन सबके प्रति आभारी हैं ।”

यहां उस समूचे घटनाक्रम को, कुछ धुंधले रूप में ही सही पर याद कर लेना प्रासंगिक लहोगा कि किस दृढ़ता तथा होशियारी से आर एस एस लम्बे समय से पूरे शिक्षा तंत्र को अपने सांप्रदायिक ऐजेण्डे की पूर्ति का साधन बनाने का प्रयास करता रहा है । राज्य व केंद्र सरकारों के अधीन चलने वाले स्कूलों में उसे सफलता तो मिली पर शत प्रतिशत या मनचाहे रूप में नहीं । मनचाही शतप्रतिशत सफलता के लिए विद्याभारती के अन्तर्गत चलने वाले लगभग 14000 स्कूल (सरस्वती शिशु मंदिर) सतत् प्रयासरत हैं, परन्तु उसके प्रयास रुके नहीं हैं । अनेक राज्यों एवं केन्द्र में दूसरी बार

भाजपा के सत्तासीन होने के कारण उसके उत्साह साहस तथा अवसरों साधनों सभी में वृद्धि हुई है । 1977 में एन सी ई आर टी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को पाठ्यक्रम से निकलवाने, बाद में इन पुस्तकों में संशोधन कराने की कोशिश, एन सी ई आर टी का पुनर्गठन, सन् 98 के उत्तरार्द्ध में राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में शिक्षा को हिन्दुत्ववादी बनाने की संस्तुतियों को स्वीकार कराने की कोशिश, उत्तर प्रदेश में 1991 के साल में भाजपा सरकार द्वारा सरकारी स्कूलों के पाठ्यक्रमों में संघवादी परिवर्तनों की कार्यवाहियां, वैदिक गणित, पौराणिक कथाओं को तथ्यात्मक इतिहास का रूप देने का प्रयास, धार्मिकता के समावेश में वृद्धि, कल्प वृक्ष योजना, स्कूलों में सरस्वती वंदना तथा वन्देमातरम को अनिवार्य घोषित किया जाना, इसी क्रम की स्मरणीय घटनाएं हैं जिन्होंने शिक्षा के स्वरूप को नकारात्मक स्तर पर प्रभावित किया और अनेक नये खतरे निर्मित किये । संघ की शिक्षा नीति के सन्दर्भ में चर्चित पत्रकार राम सुजान अमर की ये पंक्तियां विचारणीय हैं -

“वास्तव में यह उसकी राजनीतिक परियोजना का अंग हैं । शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन उसके लिए कोई अलग-थलग मुद्दा नहीं है, बल्कि उसके वृहत उद्देश्य का अविभाज्य अंग है । जिस संस्कृति की तलवार से संघ परिवार ने अपने तमाम विरोधियों को घायल कर दिया है, शिक्षा उसकी धार है । इसलिए अगर हिन्दुत्व की आक्रामकता एवं कौशल को देखते हुए फासीवाद की चर्चा होती है तो यह केवल रूक नहीं है । शिक्षा, संस्कृति, राष्ट्रवाद जैसे शब्दों के विध्वंसक प्रयोग की शक्ति अगर संगठनात्मक रूप ले ले तो उसका खतरा वास्तविक है ।”

यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि संघ के इस अभियान को शिक्षा विभाग के छोटे बड़े कर्मचारियों, सरकारी व गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं के अध्यापकों, प्रधानाचार्यों का सहयोग मिलता रहा है ।

पाठ्यक्रम में प्रस्तुत सामग्री की वैधता असंदिग्ध होने का छात्रों में जमा हुआ विश्वास खतरों को अधिक गंभीर बनाता है ।

अलग-अलग शिक्षा पद्धतियों के पाठ्यक्रमों में सामाजिक सद्भाव तथा इंसानी भाईचारे को क्षति पहुंचाने अर्थात् सांप्रदायिक दुर्भावना उभारने वाली सामग्री को रेखांकित करने से पूर्व 1968 में स्वीकृत राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रारूप में इस लक्ष्य को याद कर लेना बेहतर होगा:

“राष्ट्रीय प्रगति, समान नागरिकता और समान संस्कृति की भावना को बढ़ावा देना तथा राष्ट्रीय एकता को मजबूती प्रदान करना ।” इसमें शिक्षा प्रणाली के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आवश्यकता, सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार तथा विज्ञान एवं

टेकनॉलाजी पर अधिक ध्यान देने पर बल दिया गया। शिक्षा में नैतिक मूल्यों को शामिल करने और शिक्षा को लोगों के जीवन से संबद्ध बनाने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र यह कभी कहा गया -

“शिक्षा उन संवेदनाओं और अवधारणाओं को परिष्कृत बनाती है जो राष्ट्रीय शक्ति, वैज्ञानिक मानसिकता और मस्तिष्क और आत्मा की मुक्तता में योगदान करती हैं और अंततः हमारे संविधान में वर्णित समाजवाद और लोकतंत्र के लक्ष्यों को हासिल करने में सहायता करती है।”

यह स्मरण इसलिए आवश्यक है क्योंकि सरकारी स्कूलों के पाठ्यक्रम इन नीतियों से प्रभावित होते हैं। साथ ही यह अपेक्षा भी की जाती है कि इन लक्ष्यों व नीतियों की अवहेलना करने वाली सामग्री पाठ्य-पुस्तकों से हटा दी जायेगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सका इतिहास की पुस्तकें जिसका सबसे बड़ा उदाहरण है। परिषद की पाठ्य पुस्तकों का अध्ययन करते हुए यह महसूस किया जा सकता है। आजादी के बाद धर्मनिरपेक्ष राज्य में शिक्षा का जो स्वरूप होना चाहिए वह निर्मित नहीं हो सका तथा पाठ्य सामग्री के चयन में संवैधानिक मूल्यों, शिक्षा नीति के सिद्धांतों तथा मानवीय संवेदना की अवहेलना की गयी।

इतिहास के बारे में संघ के शिक्षा प्रकोष्ठ विद्या भारती का दृष्टिकोण है कि “इतिहास विगत का मृत आख्यान नहीं है।”

और यह कि, हमें अपना इतिहास तटस्थ भाव से नहीं पढ़ना चाहिए बल्कि स्वयं को केन्द्र में रखकर उसके गौरव से गौरवान्वित होना चाहिए।” “हमारा अतीत महान है। हमारे दर्शन और परंपराओं की तुलना किसी अन्य से नहीं की जा सकती।” (गौरवशाली भारत)

इसे दुखद संयोग ही माना जायेगा कि उत्तर प्रदेश के सरकारी स्कूलों का पाठ्यक्रम तैयार करने वाले रचना मंडल ने इतिहास के प्रति लगभग इसी दृष्टिकोण को अपना लिया। कारणवश दोनों जगहों पर पाठ्यक्रम की बहुत सारी विसंगतियां समान हैं। इसके फलस्वरूप इतिहास का पाठ्यक्रम आम तौर पर इस्लाम व मुस्लिम विरोधी भावों को विस्तार देते हुए पूर्व गृहीत तथ्यों का संकलन बन गया है इसे इतिहास का मिथकीकरण भी कह सकते हैं।

10-12 वर्ष पूर्व प्रतिष्ठित अंग्रेजी पत्रिका ‘सेमिनार’ ने इतिहास के मिथकीकरण के अभियान को चुनौती देने के उद्देश्य से अपना एक अंक भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए एक नई दृष्टि विषय पर केंद्रित किया था। बाद में जिसका अनुवाद एक पुस्तक ‘इतिहास की पुनर्व्याख्या’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ। जिसके संपादक ने स्वीकार किया है -

“पूर्व कल्पित निष्कर्ष इस विचार के प्रचार में भी दिखाई देते हैं कि मुस्लिम शासन हिन्दू भारत के लिए अनर्थकारी था। और यह कि मुसलमानों ने नियमितता से हिन्दू मन्दिरों को मस्जिदों में तब्दील किया ...।” (पृष्ठ 12)

यहां प्रश्न उठता है कि आधुनिक विकास, सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य से आबद्ध पाठ्यक्रम सामाजिक विघटन की प्रवृत्ति को बल देने की भूमिका में कैसे आया, यद्यपि इस पर संक्षिप्त टिप्पणी पहले की जा चुकी है, फिर भी यह याद कर लने में क्षति नहीं कि नव स्वाधीन भारत में पाठ्यक्रम पुस्तकों की आधार सामग्री के चयन में विशेष रूप से इतिहास की पुस्तकों के संबंध में जितने व्यापक शोध, अनुसंधान और परिश्रम की आवश्यकता थी, वह सामान्यतः संभव नहीं हो पाया। फिर

पाठ्य पुस्तकों की तुरंत आवश्यकता थी, हालत यह थी कि आजादी के बाद के आरंभिक वर्षों में स्वाधीनता पूर्व की उर्दू व अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें पढ़ाई जाती रहीं। ऐसे में पाठ्य पुस्तकों की आधार सामग्री के लिए मुख्य रूप से स्वाधीनता पूर्व यानी कि औपनिवेशिक काल की पाठ्य पुस्तकों और अंग्रेज विद्वानों द्वारा लिखे गये इतिहास पर भरोसा किया गया। दोनों ने ही जेम्स मिल की काल अवधारणा को निर्द्वन्द्व रूप से स्वीकार किया था। जब इतिहास प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक कालों में विभाजित हो गया, तब इनकी ब्रिटिश सत्ता को मजबूती तथा हिंदू पुनरुत्थान वाद को संतुष्टि दे सकने वाली विशिष्ट सांप्रदायिक व्याख्या में स्वतः सुविधा हो गयी। प्राचीनकाल, जिसमें मुसलमान नहीं थे, बहुत सारी दमनकारी अन्याय परक कार्यवाहियों के बावजूद स्वर्णकाल माना गया, मध्यकाल में क्योंकि भारत के बड़े हिस्से पर मुस्लिम शासकों का प्रभुत्व था, कारणवश वह दमन, अन्याय लूट, सामाजिक पतन तथा सांस्कृतिक अवनति का काल व्याख्यायित किया गया।



आधुनिक काल क्योंकि अंग्रेजों के एक क्षेत्र साम्राज्य की स्थापना के साथ आरंभ हुआ। इस कारण वह प्रगति, जागरण और निर्माण के काल के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस बारे में सुप्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर का विचार है :

“राष्ट्रवादी इतिहासकारों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उन्होंने मिल के काल विभाजन को चुनौती नहीं दी। एक हद तक इसका कारण यह था कि राजनीतिक व राजवंशीय इतिहास का अध्ययन तो जारी रहा, लेकिन सामाजिक और आर्थिक इतिहास अध्ययन को करीब करीब त्याग दिया गया... इस काल विभाजन के संदर्भ में प्राचीनतर काल के गौरवमंडन का अर्थ बुनियादी तौर से हुआ- हिन्दू काल का गौरवमंडन। इससे दोनों कालों के बीच भेद और भी गहरा हो गया।”

“...हिन्दू सत्ता के पतन की व्याख्या करने के लिए सुगम आधार था और इसके लिए अधिक बौद्धिक श्रम की जरूरत नहीं थी। इस बात की व्याख्या करने के लिए कि तुकों के लिए इतनी जल्दी अपनी सत्ता कायम करना कैसे संभव हो सका, उस समय के समाज का विश्लेषण करने की मुश्किल से कोशिश की गई। इसके बाद यह मान लिया गया कि मुस्लिम काल पतन का काल था। जिसकी अपनी खामियों के लाजमी नतीजे के तौर पर ब्रिटिश सत्ता का आगमन हुआ। इसी तरह यह दलील भी दी गयी कि मुस्लिम काल में दो राष्ट्रों - हिन्दू और मुस्लिम - का विकास हुआ, जिसकी आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के अनुरूप एकमात्र तर्कसिद्ध परिणति यही हो सकती थी कि यह उपमहाद्वीय एक हिन्दू प्रधान और एक मुस्लिम प्रधान राज्य में विभाजित हो जाये।”

रोमिला थापर तथा उन जैसे अन्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास के काल विभाजन को मनगढ़ंत माना है क्योंकि आजादी के बाद उसके पूर्व के लम्बे घटनाक्रम को विशेष संदर्भ में देखने के कारण भारतीय समाज में मुस्लिम विरोधी वितृष्णा बहुत गहरी हो आयी थी। उनके प्रति सही बात कहने अथवा उनके प्रति सहानुभूति, बड़ा अपराध माना जाता था। कारणवश पुस्तकें लिखने या उनके लिए सामग्री का चयन करने वालों तथा उनके शिक्षण में लगे लोगों को वो सब सही लगा जो मुसलमानों या इस्लाम की गलत छवि बनाता हो। बल्कि यह देखा गया कि इतिहास की अनेक घटनाओं को अध्यापकों ने अधिक बढ़ा चढ़ा कर अथवा उग्र रूप में प्रस्तुत किया। एक तो पाठ्यक्रम की वैधता का विश्वास फिर गुरुजी या मास्टर साहब की विश्वसनीयता, जैसे करेला नीम चढ़ गया हो।

इतिहास के प्रति इस दृष्टिकोण से दो नकारात्मक स्थितियां निर्मित होती हैं। एक तो यह कि मुसलमानों के बारे में पहले से

मौजूद दुर्भावना दृढ़ता और विस्तार पाती है, दूसरी यह है कि इससे मुस्लिम बच्चों में हीन भावना विकसित होती है। वो कक्षा में अलग थलग पड़ जाते हैं।

यह आश्चर्यजनक लग सकता है, पर है वास्तविकता कि उत्तरप्रदेश में इतिहास के बारे में गलत जानकारी देने का सिलसिला प्राथमिक कक्षाओंसे ही आरंभ हो जाता है। जैसे कि कक्षा 3 की पाठ्य पुस्तक ‘हमारी दुनिया-हमारा समाज’ के अध्याय हमारी धरोहर में बताया गया -

“हमारे देश में चन्द्र गुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि शासक पैदा हुए।”

“समय समय पर बड़े बड़े विद्वान कवि तथा वैज्ञानिक भी पैदा हुए। हमें इन सब पर गर्व है।” (पृष्ठ 42)

इन पंक्तियों से यह साफ प्रकट होता है कि पाठ्यक्रम तैयार करने वाले अल्प आयु में ही बच्चों के मस्तिष्क में यह बिठा देना चाहते हैं कि भारत के असली शासक वे चंद राजा लोग ही थे, जिनके नामों का उल्लेख ऊपर किया गया है। जो कवि वैज्ञानिक-विद्वान हुए वे उसी परम्परा में थे। इसी प्रकार इतिहास शिक्षण के आरंभिक अध्यायों में कुछ खास शासकों को समूचे भारत या हिन्दू समुदाय का प्रतिनिधि शासक बताकर महिमामंडित करने की प्रवृत्ति भी दिखती है। यह प्रवृत्ति इतिहास के उच्चतर पाठ्यक्रमों तक सक्रिय है। ये सभी शासक सर्वगुण सम्पन्न हैं, अर्थात् वीर-स्वाभिमानी, मातृभूमि के रक्षक, राष्ट्रनायक एवं स्तंत्रता प्रेमी। इस संबंध में प्राचीन काल के लगभग सभी शासकों के अतिरिक्त मध्यकाल के पृथ्वी राज चौहान, महाराणा प्रताप, शिवाजी तथा रणजीत सिंह पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें शक नहीं कि पृथ्वी राज चौहान, महाराणा प्रताप और शिवाजी वीर, स्वाभिमानी और स्वतंत्रता प्रेमी थे परन्तु इतिहास का यह प्रमाणित तथ्य है कि उन्होंने तुर्क सुल्तानों और मुगल बादशाहों से जो लडाइयां लड़ीं वे अपनी सत्ता व राज्य को बचाने के लिए थीं। बृहत्तर अर्थों में उनका कोई संबंध धर्म, जाति, देश या भारत से नहीं था।

जैसा कि कक्षा पुस्तक 4 ‘हमारी दुनिया, हमारा समाज’ भाग - 2 के पाठ 14 में उल्लिखित है -

“तरवाडी के युद्ध का भारत के इतिहास में बड़ा महत्व है। पृथ्वीराज की हार से भारत के सभी राजाओं की हिम्मत टूट गयी। गोरी के लिए भारत का साम्राज्य कायम करना सरल हो गया। इस प्रकार आपसी फूट के कारण धीरे धीरे राजपूतों के राज्य समाप्त होते गये और दिल्ली के तुर्क सुल्तानों का राज्य देश के बड़े भू भाग पर बढ़ता चला गया।” (पृ. 100)

इसी पुस्तक के 'सम्राट अकबर' अध्याय में जिस प्रकार भारतीय राजपूतों का गौरवगान किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उस काल में वीरता एवं स्वाभिमान केवल राजपूतों का गुण था। भारत की शेष जातियां न तो वीर थीं, न स्वाभिमानी।

“अकबर पूरे हिन्दुस्तान पर अपना अधिकार करना चाहता था। परन्तु वह बड़ा दूरदर्शी था। वह इस बात को अच्छी तरह समझता था कि बिना यहां की जनता को विशेषकर वीर एवं स्वाभिमानी राजपूतों को अपना मित्र बनाये, उसका यह स्वप्न पूरा नहीं हो सकता।” (पृ 115)

इसी पुस्तक के अध्याय 'गुरुनानक' की ये पंक्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं -

“गुरुनानक पर प्रारंभ में इस्लाम धर्म का प्रभाव पड़ा। उन्होंने मुसलमानों के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान मक्का की भी यात्रा की लेकिन वहां धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बर को देखकर उन्हें दुख हुआ। गुरुनानक ने धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया।”

उपर्युक्त पंक्तियों में मुसलमानों के एक प्रमुख धार्मिक विश्वास को आडम्बर बताया गया है। जबकि जिन आडम्बरों व अन्धविश्वासों के कारण गुरुनानक को हिन्दू धर्म छोड़ना पड़ा, उनका इस अध्याय में कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

कक्षा 5 के लिए स्वीकृत पुस्तक 'हमारी दुनिया हमारा समाज' के अध्याय 'मराठा शक्ति' में मराठों और मुगलों के बीच संघर्ष को हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का रूप देने का प्रयास किया गया है। ऐसा प्रयास इतिहास के अन्य अध्यायों में भी देखने को मिलता है। मध्यकाल में जबकि हिंदू राज्य या हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना ही नहीं थी, पूरा देश बहुत सारी क्षेत्रीयताओं में और धर्म वर्णों में बंटा हुआ था, तब तुर्की सुल्तानों तथा मुगल शहंशाहों से राजपूत, मराठा, या सिख राजाओं के युद्धों के सरोकार बहुत सीमित थे।

“मैत्री और युद्ध धर्म की विभिन्नता पर आधारित नहीं होते थे। किसी अन्य हिन्दू राजा से युद्ध करने के लिए किसी मुस्लिमक शासक से संधि करना और सहायता प्राप्त करना एक हिन्दू राजा के लिए असाधारण बात नहीं थी और यही बात मुस्लिम राजवंशों के संबंध में थी। जब तक किसी निश्चित राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि न होती हो, धर्म पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, किंतु जहां संभव होता था, धर्म का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता था।”

(भारत का इतिहास, रोमिला थापर पृ. 254)

रोचक तथ्य यह कि सांप्रदायिक या पूर्वग्रहीत इतिहासकार कई बार परस्पर विरोधी बातें भी कह जाते हैं। जैसा कि यह उद्धरण जिसमें बाजीराव प्रथम के मराठा साम्राज्य को विकसित करने के

संकल्प को हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का संकल्प बताया गया है-

“पेशवा बनने पर उसने मराठा राज्य को अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली बनाने का दृढ़ संकल्प किया। भारत में मुगल साम्राज्य का अंत कर, एक स्वतंत्र हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की उसकी बड़ी अभिलाषा थी। इस विचार से वह एक दिन शाहू के दरबार में उपस्थित हुआ और उसे संबोधित कर उसने उत्साहपूर्वक कहा :

“छत्रपति मुगल साम्राज्य एक सूखे वृक्ष के समान है। हमें उसकी जड़ पर चोट करनी चाहिए। शाखाएं अपने आप गिर पड़ेंगी? तब मराठा पताका कृष्ण नदी से सिन्धु नदी तक फहरायेगी।”

इन शब्दों को सुनकर शाहू के मन में उत्साह की लहर दौड़ गयी, उसने कहा -

“वीर नायक, जिस दिशा में चाहो सेना लेकर जाओ और विजय प्राप्त करके दिल्ली तक ही नहीं, मराठा झण्डा हिमालय और उससे भी किन्नर देश तक फहराओ।” (पृ. सं. 120)

इसी पुस्तक के लिए एक अध्याय में टीपू सुल्तान को विद्वान और कुशल योद्धा बताया गया परन्तु इतिहास में उसकी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद उसका वैसा गौरवगान नहीं किया गया जैसा कि एक दूसरे अध्याय में महाराजा रणजीत सिंह का, जिन्हें अंग्रेजों से मित्रता के लिए काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

“वास्तव में महाराजा रणजीत सिंह एक कुशल शासक, सेना नायक तथा श्रेष्ठ मानव थे। ऐसे समय में जब भारत के अनेक शासक अंग्रेजों के चंगुल में फंस रहे थे महाराजा ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया और अपना राज्य सुरक्षित रखा।” (पृ. सं. 140)

इतिहास शिक्षण में पक्षपात की यह प्रवृत्ति 1857 के संग्राम तथा नवजागरण से संबंधित अध्याय में भी देखने को मिलती है। 1857 वाले अध्याय में ईसाई पादरियों की भी गलत छवि पेश की गयी है। इस संग्राम में मुसलमानों की व्यापक भूमिका के उल्लेख से बचते हुए मौलवी अहमद उल्लाहशाह, बेगम हजरत महल, अजीमुल्लाह खान के ऐतिहासिक योगदान की चर्चा न करके वर्ग विशेष के नायकों को अधिक प्रमुखता दी गयी है। इस संग्राम को विस्तार देने में हिन्दुस्तानी सिपाहियों तथा भारतीय जनता के शोषित वर्गों द्वारा की गयी कार्यवाहियों पर भी प्रकाश डालने से बचा गया है। इसी पुस्तक के अध्याय 7 में नवजागरण के बारे में बच्चों को बताया गया है -

“तुम राजा राम मोहन राय और उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज के बारे में पढ़ चुके हों। उसके बाद भी देश में अनेक बड़े समाज सुधारक हुए, जिन्होंने हमें नई आशा का संकेत दिया, इनमें महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द

श्रीमती एनीबेसेन्ट के नाम प्रमुख हैं। इनके उपदेशों से समाज में एक नयी जागृति उत्पन्न हुई। इसलिए इस युग को नवजागरण युग कहते हैं।”

नवजागरण का यह अधूरा चित्र है। समाज में राष्ट्रीय चेतना व नई जागृति जगाने या फैलाने में केवल ऊपर उल्लिखित महापुरुषों का ही नहीं, हिन्दी-उर्दू के अनेक साहित्यकारों, समाचार पत्रों, शाहवली उल्लाह की सामंती एकाधिकार तथा उलेमा की साम्राज्यवाद विरोधी तहरीक, वहाबी आन्दोलन, चिराग देहलवी व सर सैयद अहमद खां के शिक्षा आन्दोलन की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। यों भी नवजागरण समाज सुधार की चेतना के गर्भ से नहीं उपजा, बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी गुस्सा उसकी प्रमुख शक्ति थी। रूचियों व अंधविश्वासों से मुक्ति की जरूरत तो भारतीय समाज में पहले से महसूस की जा रही थी। इसमें तीव्रता 1857 के संग्राम के बाद आत्मविश्लेषण के क्षणों में आयी। पुनरुत्थानवाद भी जिसकी एक प्रवृत्ति थी।

### हमारा इतिहास और नागरिक जीवन

कक्षा छठी से आठवीं तक इतिहास शिक्षण का पाठ्यक्रम “हमारा इतिहास और नागरिक जीवन” शीर्षक के अन्तर्गत आ जाता है। यहां से पाठ्यक्रम अधिक विषद और गंभीर हो जाता है। इतिहास के प्रति बच्चों में विशेष दृष्टिकोण बनाने की, मुहिम अधिक सघन रूप ले लेती है। वर्ग विशेष के प्रति दुर्भावना उत्पन्न करने, उत्पन्न दुर्भावना को विकसित करने, एक वर्ग में सुदूर अतीत व निकट की लड़ाइयों के प्रति गौरव का भाव भरने तथा दूसरे वर्ग में इसके विपरीत हीन भावना भरने का उद्देश्य साफ नजर आता है। जैसा कि बेसिक शिक्षा परिषद के पाठ्यक्रम के संदर्भ में पहले ही कहा गया है कि इस उद्देश्य को पाने के लिए प्राचीनकाल तथा अन्य सभी कालों के हिंदू राजाओं की छवि तत्कालीन परिदृश्य से काटकर उज्वल बनाने की कोशिश की गयी। वहीं भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों के लिए मुस्लिम शासकों को दोषी बताया गया है। अधिकतर मुस्लिम बादशाहों की छवि धार्मिक रूप में उन्मादी कट्टर और दूसरी बुराइयों से युक्त उभारी गई है। हिन्दू राजा मन्दिर बनवाता है तो स्थापत्य या वास्तुकला की सेवा करता है मुस्लिम बादशाह मस्जिद बनवाते हैं तो धर्म का राज कायम करते हैं। सल्तनत काल की स्थापना (1000 ई.) को भारतीय समाज व संस्कृति की अवनति का प्रस्थान बिन्दु माना गया है। आमतौर पर मुस्लिम बादशाहों को जिन बुराइयों के लिए दोषी बताया गया है, वे इस तरह हैं -

1. भारतीय संस्कृति का हास
2. हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता पर कुठाराघात

3. जबरन जजिया कर लगाया जाना
4. पूजा घरों का ध्वंस
5. इस्लाम का प्रसार
6. सामाजिक दरिद्रता में वृद्धि
7. स्त्रियों की दुर्दशा तथा पर्दा-प्रथा का प्रचलन
8. बहु विवाह, बाल विवाह का रिवाज
9. दास प्रथा का आरंभ होना
10. भारत की सम्पन्नता पर कुठाराघात

छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाओं में इतिहास शिक्षण के लिए जो पुस्तक स्वीकृत है, उसका नाम है, “हमारा इतिहास और नागरिक जीवन।” छठी कक्षा की पुस्तक के अध्याय -3 ‘वैदिक कालीन सभ्यता’ में आर्यों को मध्य एशिया से आया हुआ बताया गया है। परन्तु न तो उन्हें आक्रमणकारी माना गया है, न अत्याचारी। भारतीय स्त्री को उनके कारण जो बहुत से कड़े बन्धन बर्दाश्त करने पड़े। सामाजिक व्यवस्था में उनके द्वारा किये गये बलात परिवर्तनों के कारण करोड़ों लोगों को जो नारकीय जीवन का अभिशाप भोगना पड़ा, उसका भी कोई उल्लेख नहीं है। रोमिला थापर ने ठीक ही लिखा है कि “भारतीय इतिहास की हिन्दूवादी व्याख्या के साथ आर्य संस्कृति के प्रचार का सीधा संबंध है।”

(इतिहास की पुर्नव्याख्या, पृ. 95)

यह भी माना जाता है कि क्योंकि आर्यों ने वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत प्रतिपादित किया और इतिहास लेखकों तथा शिक्षा समितियों इत्यादि में वर्ण व्यवस्था के पक्षधरों का बाहुल्य है, कारणवश आर्यों के प्रति उदार रुख अपनाया गया है। इसका एक कारण यह भी माना जाता है कि आर्यों तथा उसके बाद के निकट कालों में घटित असमानता बढ़ाने वाली स्त्री और दासों और श्रमिकों की स्थिति त्रासद बनाने वाली कार्यवाहियों का पाठ्य पुस्तकों में उल्लेख इसलिए नहीं किया गया ताकि सल्तनत काल, उसके तुरंत बाद के काल का जो भयावह चित्र प्रस्तुत किया जाने वाला था तथा उसमें जो शिद्दत अपेक्षित थी, उसमें किसी तरह की बाधा न आने पाये।

बहरहाल कोसाम्बी, डी. एन. झा, प्रो. आर. एस. शर्मा, बी. आर. अम्बेडकर, रोमिला थापर इत्यादि की पुस्तकें, निबन्ध आलेख प्रमाणित करते हैं कि मध्यकाल पूर्व के भारत में सब कुछ ठीक ठाक नहीं था।

“आर्य बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के लोग थे। उनके धार्मिक विचार सरल थे। वे आचरण की शुद्धता पर विशेष बल देते थे। आचरण की शुद्धता के लिए आरम व्यवस्था अपनायी गयी थी।

आर्य प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे ।”

इसी प्रकार इस पुस्तक के अध्याय 5 में (नवीन धार्मिक विचारों का अभ्युदय, जैन और बौद्ध धर्म) जैन व बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार चन्द्रगुप्त, अशोक तथा अन्य तत्कालीन शासकों द्वारा जो राजकीय संरक्षण दिया गया तथा नया धर्म स्वीकार कर लेने वालों पर तब और बाद में जो आक्रमण हुए । उनके मठों-विहारों को जो निर्मम ध्वंस किया गया, उसका कोई उल्लेख इस अध्याय में नहीं है, जबकि यह प्रमाणित हो जाने के बावजूद कि भारत में इस्लाम के प्रचार प्रसार में आमतौर पर मूस्लिम शासनकाल में वैसा राजकीय संरक्षण नहीं दिया गया, तब भी इसका बहुतायत में उल्लेख किया गया। इस अध्याय में बताया गया है कि लोग “वैदिक धर्म के यज्ञों, कर्मकांडों से ऊब चुके थे, इसलिए लोगों ने जैन व बौद्ध धर्म के सरल उपदेशों को शीघ्रता से अपना लिया।”

लेकिन बड़ी मात्रा में बने जैन व बौद्धों की जनसंख्या आज इतनी कम क्यों है, इस बारे में कोई संकेत नहीं है ।

“इस काल में वैदिक, बौद्ध व जैन धर्म के मानने वाले अधिक थे । सभी धर्मों के अनुयाइयों में सहिष्णुता थी और सभी धर्म प्रगति कर रहे थे । वैदिक धर्म में वासुदेव, कृष्ण, शिव, इन्द्र, कुबेर, लक्ष्मी, यक्ष, नाग, पर्वत, सूर्य अग्नि, नदी आदि की पूजा होती थी । चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं जैन धर्म का एवं अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था।”

### मौर्यकालीन जीवन

“इस समय समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की अपेक्षा निम्न था । किन्तु स्त्रियों का अपने पति की सम्पत्ति पर अधिकार होता था । इस समय पर्दाप्रथा नहीं थी । स्त्रियां साधुनी, भिक्षुणी भी हो सकती थीं । कुछ स्त्रियां सम्राट की अंग रक्षिकाओं एवं गुप्तचरों का भी काम करती थीं । समाज में दास प्रथा प्रचलित थी किन्तु उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था । वे आजकल के घरेलू नौकरों की भांति होते थे ।” (पृ. 59)

गुप्त काल के संबंध में बताया गया-

“इस काल में बौद्ध तथा जैन धर्म की अपेक्षा ब्राह्मण धर्म का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा था । ब्राह्मणों का सम्मान पुनः होने लगा था । विष्णु, लक्ष्मी एवं शक्ति की पूजा वैदिक कर्मकांडों एवं धार्मिक मतों का प्रभाव फिर अधिक बढ़ गया था । गुप्त सम्राट सहिष्णु थे । वे बौद्ध व जैन धर्म का भी सम्मान करते थे । ये दोनों धर्म भी अच्छी दशा में थे । लोगों को धार्मिक क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता थी ।”

“स्त्रियों का समाज में बड़ा आदर होता था । उन्हें संगीत, नृत्य तथा चित्रकला आदि में कुशलता प्राप्त थी।”

(वर्धन काल तथा चालुक्य एवं पल्लव काल, पृ. 91)

### राजपूत काल

इस युग में भारतीय समाज अनेक जातियों और उपजातियों में बंट गया था । जातियों में ब्राह्मणों की स्थिति अब श्रेष्ठ थी । स्त्रियों का समाज में आदर था । उन्हें शिक्षा प्राप्ति की भी सुविधा थी पर उनकी दशा हीन होती जा रही थी ।

(राजपूतकालीन सामाजिक जीवन-98)

“दक्षिण भारतीय शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे । वे अन्य धर्मों के प्रति उदार थे । वे बौद्ध एवं जैन धर्म के विहारों तथा मन्दिरों के लिए भी धन दिया करते थे ।” (पृ. 106)

ऊपर के उद्धरणों से, जिनमें अनेक अन्तर्विरोध भी हैं, यह संकेत मिलता है कि भारत में मुस्लिम शासकों के आने से पूर्व सब तरफ चैन की बंसी बजती थी । सामाजिक समरसता थी, सभी धर्मों का आदर था । वर्ण आश्रम का कठोरता से पालन होता था, किन्तु सभी जातियां सुख से थी । दलितों, स्त्रियां, दासों का दमन व शोषण नहीं होता था । उन्हें शिक्षा व सामाजिक भागीदारी के अधिकार मिले हुए थे । परन्तु क्या यह स्थिति का वास्तविक चित्रण है ? या इसे सत्य के निकट माना जा सकता है ?

देखें इस बारे में प्राचीन भारत की अध्येता रोमिला थापर क्या कहती हैं -



“भारतीय इतिहास की व्याख्या के संदर्भ में जब कभी सांप्रदायिक झुकाव का उल्लेख किया जाता है, तब यह आमतौर पर मान लिया जाता है कि भारतीय इतिहास के प्राचीन काल पर लिखने वाले इतिहासकारों में यह झुकाव होता ही नहीं, या अगर होता भी है, तो वह बहुत प्रासंगिक नहीं है। बहरहाल भारतीय इतिहास की व्याख्या और समझदारी के प्रति साम्प्रदायिक दृष्टिकोण इतिहास के सिर्फ मध्य और आधुनिक कालों तक सीमित नहीं है, क्योंकि दृष्टिकोण के बुनियादी तौर पर सांप्रदायिक होने पर प्राचीन भारतीय इतिहास की व्याख्या और समझदारी भी विकृत हो सकती है। आधुनिक सांप्रदायिकता की विचारधारा की परीक्षा करने पर यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि ऐतिहासिक अतीत का सहारा लेकर वह बौद्धिक स्तर पर अपना औचित्य सिद्ध करने की कोशिश करता है। इसलिए हिन्दू सम्प्रदायवादी प्राचीन काल में आदर्श हिन्दू समाज के अस्तित्व का चित्र पेश करने की कोशिश करते हैं, और भारत के सारे दुर्गुणों का कारण मुसलमानों के माथे मढ़ते हैं।”

(इतिहास की पुनर्व्याख्या - पृ. 87)

“पहचान में आ सकने योग्य प्राचीनतम ऐतिहासिक संस्कृति को ही देशी परम्परा समझा जाता है। जहां राष्ट्रवाद के साथ उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद विरोधी स्थिति भी जुड़ी हो, वहां अतीत का गौरव मंडन वर्तमान की अपमानजनक स्थिति में एक प्रकार की सांत्वना का भी काम करता है।” (वही पृ. 87)

दलितों एवं स्त्रियों को आज भी देश के अनेक भागों व नागरिक समूहों में बहुत से बुनियादी सामाजिक व संवैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है। बाल मजदूरों, घरेलू नौकरों (स्त्री पुरुष) तथा महिला श्रमिकों को अब भी एक दिन में बारह-चौदह घण्टे काम करना पड़ रहा है, वह भी कम वेतन में यौन दैहिक शोषण के खतरों के साथ।

हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व इनकी क्या स्थिति रही होगी, अनुमान लगा पाना कठिन नहीं है जबकि भारतीय समाज में परिवर्तन की गति बहुत धीमी होने के अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं। इस तरह के विरोधाभास, इतिहास तथा सामाजिक अवस्थाओं के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने से उत्पन्न होते हैं -

“स्त्रियों और शूद्रों के विषय में आये संयुक्त वचनों से समाज की स्थिति का पता चलता है, जिसके वास्तविक स्वरूप की तरफ हम लोगों का ध्यान नहीं गया है। उनके आधार पर हमें इस निष्कर्ष को मानना होगा कि स्त्रियां और शूद्र समाज के सबसे तिरस्कृत अंग थे। .. किन्तु यह सभी प्राचीन वर्ग विभाजित समाजों का सामान्य

लक्षण प्रतीत होता है। जहां पुरुष का स्त्री पर तथा पुरोहितों और योद्धाओं का छोटे-छोटे व्यापारियों एवं उत्पादन श्रमिकों पर आधिपत्य रहता है। इस प्रकार के समाज में स्त्रियां और शूद्र एक ही कोटि में रखे जाते थे।.. (प्रो. राम शरण शर्मा, पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था-पृ.28)

“मनु के अनुसार यदि कोई शूद्र दासता से उन्मुक्त हो जाये तो भी उसे इससे उद्धार नहीं है, क्योंकि दासत्व उसमें जन्मजात है।” (वही पृ. 29)

इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही संस्कृति के प्रति भी हमारे रवैये या समझ को निर्धारित करता है। अध्याय ‘हमारी सांस्कृतिक विरासत’ में जिसके साक्ष्य पाये जा सकते हैं। इस अध्याय में भारतीय संस्कृति के छह विशेष गुण बताये गये हैं -

1. प्राचीनता
2. निरन्तरता
3. विभिन्नता में एकता
4. आत्मसात करने की प्रवृत्ति
5. सहिष्णुता
6. वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श

इन गुणों की व्याख्या पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि बच्चों को जिस संस्कृति के बारे में बताया जा रहा है, वह विशिष्ट पहचान वाली साझी भारतीय संस्कृति नहीं बल्कि खास हिन्दू संस्कृति है। देखें विभिन्नता में एकता का बखान -

“भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता विभिन्नता में एकता है। भारत में विभिन्न जातियों, धर्मों तथा संप्रदायों के लोग रहते हैं। इनका खान-पान और बोलने की भाषा भिन्न-भिन्न है। पर विभिन्नताओं के होते हुए भी उनमें मौलिक एकता है। इसका आधार हमारी मिली-जुली संस्कृति है। इस सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हमारे देश के चार प्राचीन तीर्थ स्थल हैं। उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम, पूर्व में जगन्नाथपुरी तथा पश्चिम में द्वारिका। इनकी यात्रा करने हजारों तीर्थ यात्री प्रतिवर्ष देश के एक कोने से दूसरे कोने तक आते जाते हैं। देश में समय-समय पर धार्मिक मेले भी आयोजित होते हैं। इनमें हरिद्वार एवं प्रयाग का कुंभ मेला बहुत मशहूर है। इन मेलों में लाखों यात्री आते हैं, इनके आपसी मेल-मिलाप से राष्ट्रीय एकता की भावना दृढ़ होती है।” (पृ. 112)

इस तथा इन जैसे कुछ अंशों की ओर दीनी तालीमी कौंसिल ने कई वर्ष पूर्व सरकार का ध्यान आकर्षित कराया था, पर उस पर अन्य कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसी क्रम में भारतीय संस्कृति के

अन्य गुणों जैसे कि आत्मसात् करने की प्रवृत्ति, सहिष्णुता का भाव प्राचीनकाल से मौजूद रहा है। यह कि संस्कृति उदार है और उसमें सभी प्राणियों के सुख की कामना की गयी है। इस तथ्य को समझने का जरा भी प्रयास नहीं किया गया है। संस्कृतियां आम तौर पर उदार होती हैं लेकिन उनमें कठोरता की प्रवृत्तियां भी निहित रहती हैं, यह विश्व की सभी संस्कृतियों का सच है। जाति व्यवस्था की जटिलता व कठोरता के कारण जब करोड़ों दलित और पिछड़े वर्ग के भारतीय सामाजिक स्वीकृति के सम्मान से वंचित हों, मुसलमानों की भी लगभग यही स्थिति हो, स्त्रियों के बारे में मनुस्मृति के सिद्धांत तथा प्राचीन धारणायें अब भी प्रचलन में हों : तब यह सांस्कृतिक गौरवगान क्या उन लोगों को हीन इंगित करने तथा उनमें हीन भावना भरने की इच्छा का ही बिम्ब नहीं है, जिन्हें बाहर से आया हुआ, आक्रमणकारी या विदेशी माना जाता रहा है। और करोड़ों गरीब-निर्धन-कमजोर लोगों के साथ जो अमानवीय सुलूक किया जाता रहा, क्या यह उसकी अनदेखी नहीं है।

### हमारा इतिहास और नागरिक जीवन -2

इतिहास शिक्षण में दुर्भावना की सक्रियता सातवीं-आठवीं कक्षा की पाठ्यपुस्तकों में अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लेती है। मुस्लिमकाल माने जाने वाले इतिहास खण्ड की पढ़ाई सातवीं कक्षा से आरंभ होती है। इस पुस्तक के पहले अध्याय का शीर्षक ही “अरबों का आतंक” है जबकि दूसरे अध्याय का शीर्षक “तुर्कों का आक्रमण”। इन आक्रमणों के उपरांत ही भारत के कुछ खास हिस्सों, जो प्रवेश-पथ के निकट थे, पश्चिमी व मध्य एशिया के मुस्लिम बादशाहों-सैनिकों के राज्यों की स्थापना का काल आरंभ होता है। यद्यपि दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों तथा सिन्ध में अरबी मुसलमानों को शासन में भागीदारी इससे पहले मिल चुकी थी। फिर भी महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद भारतीय इतिहास खण्ड को मुस्लिमकाल कहना तथ्य संगत नहीं है क्योंकि भारत के विभिन्न हिस्सों पर अनेकानेक हिन्दू राजा राज्य कर रहे थे, मुस्लिम कहे जाने वाले राज्य का विस्तार अलाउद्दीन खिलजी तथा मो. तुगलक के शासनकाल में हुआ। फिर भी वह विशुद्ध मुस्लिमकाल नहीं था। देखें - “इतिहास की पुर्नव्याख्या।”

मुस्लिम शासकों की धार्मिक छवि उभारने की कोशिश इसी अध्याय (तुर्कों का आक्रमण) से आरंभ होती है -

“महमूद एशिया के विशाल क्षेत्र में अपना प्रभाव फैलाना चाहता था। वह बहुत धन लोलुप था और धनी देश भारत पर आक्रमण कर धन लूटने का इच्छुक था। वह महान योद्धा तो था ही धार्मिक जोश भी उसमें बहुत था। उसने सुन रखा था कि भारत के मन्दिरों में अपार धन संपदा संचित है। अतः यहां का धन लूट कर अपना कोष बढ़ाने और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए

उसने योजना बनाकर आक्रमण करने का सकल्प किया।”

“गजनी का नया सूबेदार मुहम्मद गोरी बहुत मत्वाकांक्षी था और भारत में अपना राज्य स्थापित करने का इच्छुक था। हम जान चुके हैं कि महमूद गजनवी ने विशेष रूप से धन लूटने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण किये थे। किन्तु मोहम्मद गोरी ने यहां अधिकार जमाने का निश्चय किया।”

“इन सब गुणों के अतिरिक्त तुर्कों में धर्म का जोश बहुत अधिक था। नये राज्य जीतने के उत्साह से भी उनका मनोबल बहुत ऊंचा था। वे केवल विजय प्राप्त करने के लक्ष्य को अपने सामने रखते थे और उसे प्राप्त करने के लिए उचित या अनुचित साधन का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते थे।”

ऊपर के उद्धरणों से यह विरोधाभास साफ होता है कि एक ओर तो तुर्कों से आये बादशाहों के आक्रमण को धन-लोलुपता तथा साम्राज्य के विस्तार या राज्य की स्थिति मजबूत करने की महत्वाकांक्षी योजना का अंग बताया गया है, वहीं इस बात का भी विशेष उल्लेख किया गया है कि उनमें धार्मिक जोश बहुत था। यहां यह समझना कठिन नहीं है कि महमूद गजनवी में यदि वास्तव में धार्मिक जोश होता तो वह मन्दिर भले ध्वस्त कर देता, उसे लूटता नहीं और यदि लूटता भी तो लूट के धन-सम्पदा को इस्लाम के प्रवर्तक मोहम्मद साहब के निर्देशानुसार गरीबों में तकसीम कर देता। वह गजनी नहीं जाता बल्कि यहीं रुककर इस्लाम फैलाने का काम करता।

इसी अध्याय में सुल्तान इल्तुतमिश को कुशल शासक बताते हुए उसे खलीफा का प्रतिनिधि कहा गया है। परन्तु उसके दरबार से विद्वानों की संलग्नता तथा शिक्षा के प्रसार में उसकी रुचि का कोई उल्लेख इस अध्याय में नहीं। इल्तुतमिश ने भारत के सामंतकालीन इतिहास में एक बड़ा कारनामा यह अंजाम दिया कि उसने अपनी पुत्री रजिया को पुत्रों के समान सैनिक प्रशिक्षण दिलाया। इस तरह उसके दिल्ली की राजगद्दी पर बैठने की पूर्व पीठिका तैयार की।

रजिया ने शासक के रूप में जिस दक्षता और साहस का परिचय दिया वह अपनी जगह, सत्ता पर पुरुष के एकाधिकार के दंभ को ध्वस्त करते हुए उसने दिल्ली में धार्मिक शिक्षा के साथ ही अन्य विषयों की शिक्षा दे सकने वाला कालेज (मदरसा) कायम किया। पर बच्चों को इस बारे में कुछ बताने से संकोच किया गया है।

रजिया दिल्ली की पहली महिला शासक थी, उसे अपने प्रति तिरस्कार व शत्रुता का भाव रखने वाले, अमीरों-सरदारों से स्त्री होने के नाते जो कठिन संघर्ष करना पड़ा, उसके विवरण इतिहास में नहीं मिलते। रजिया ने एक अश्वेत दास को राज-काल में जो महत्व दिया वह भी हमारे इतिहास की बड़ी घटना है। उतनी ही बड़ी जितनी तुर्क सुल्तानों द्वारा अपने गुलामों को हाकिम बना देना, यों

इस घटना को भारतीय अस्मिता व स्वाभिमान को आहत करने वाली कार्यवाही कहा जा सकता है। किन्तु इस कार्यवाही को व्यापक संदर्भों में देखे जाने से दूसरे निष्कर्ष भी निकलते हैं। गुलाम वंश में अनेक योग्य शासक पैदा हुए तथा उन्होंने अपने तरीके से देश की भरपूर सेवा की -

“गुलाम वंश के सबसे कुशल तथा योग्य शासकों में बलबन की गणना की जाती है। उसने सुल्तान के पद का गौरव व सम्मान बढ़ाया। मंगोलों के आक्रमण से भी उसने सल्तनत की रक्षा की और आन्तरिक विद्रोहों को दबाकर फिर से व्यवस्था स्थापित की।” (पृ. 42)

यहां इतिहास शिक्षण की इस विसंगति को महसूस किया जा सकता है कि पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप या शिवाजी लड़ते हैं तो देश व मातृभूमि की रक्षा के लिए परन्तु बलबन मंगोलों से युद्ध करता है तो सिर्फ सल्तनत बचाने के लिए। इस युद्ध में उसका एक मात्र सर्व प्रिय बेटा मारा गया।

इसी प्रकार दिल्ली की सत्ता पर अलाउद्दीन खिलजी का उदय भी हमारे इतिहास की अति महत्वपूर्ण घटना है। इस्लामी क्रांति के पक्षधर यदि उसे जाहिल और शरीयती विरोधी कहते हैं तो हिन्दू राज के पक्षधर उसे हिन्दू विरोधी व निरंकुश शासक मानते हैं।

“अलाउद्दीन एक निरंकुश शासक था। उसने शासन के सारे अधिकारों का केंद्रीकरण किया और सब अधिकार अपने हाथ में ले लिये।” (पृष्ठ 50)

अलाउद्दीन खिलजी ने ऐसा शासन व्यवस्था - भूमि व्यवस्था में सुधार तथा कुछ सामाजिक विडम्बनाओं के उन्मूलन एवं सरकारी कारिन्दों-व्यापारियों की मनमानी रोकने के उद्देश्य से किया था। उसने मूल्यों पर नियंत्रण किया, राशन और वितरण की पहली कार्य योजना प्रस्तुत की। उसने दरबार में उलेमा के हस्तक्षेप को सीमित किया। जागीरों के अनुचित बंटवारे पर रोक लगायी। खुली लूट की छूट के लिए केंद्रीय सत्ता के विरुद्ध बगावत पर आमामदा हिन्दू व मुस्लिम सरदारों, अमीरों को शक्तिविहीन कर दिया। कारण वश धर्म के नाम पर शक्ति और सम्पन्नता अर्जित करने का स्वप्न देखने वालों का अलाउद्दीन खिलजी से नाराज होना स्वाभाविक है, परन्तु पाठ्य

पुस्तक लिखने वालों को भी क्या इसी कारण उससे नाराज होना चाहिये।

“सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की ही मिसाल लीजिए। उसने बगावती हिन्दू जमींदारों को ही कुचलने के लिए नहीं बल्कि मुस्लिम इक्तादारों को भी कुचलने के लिए कुछ कड़े कदम उठाये और इन इक्तादारों में ऐसे धार्मिक लोग भी शामिल थे, जिन्हें बगावत से कुछ लेना देना नहीं था। पर उसे हिन्दुओं के प्रति सर्वथा असहिष्णु धर्मोन्मादी के रूप में चित्रित किया जाता है। हालांकि

उसके समकालीन इतिहासकार जिया बरनी का रोना है कि अलाउद्दीन खिलजी ऐसा सुल्तान था, जिसे शरीयत की जरा भी परवाह नहीं थी।” (हरबंस मुखिया, इतिहास की पुनर्व्याख्या)

हरबंस मुखिया ने इस स्थिति पर रोचक टिप्पणी भी की है -

“दूसरे समकालीन इतिहासकारों की कृतियों में आत्मनिष्ठ तत्व बहुत प्रबल हैं। प्रायः ही वे वह नहीं लिखते जो घटित हुआ, बल्कि वो लिखते हैं, जिसे वे चाहते हैं कि घटित हो।”

आगे के अध्यायों में फीरोज तुगलक, सिकन्दर लोधी, इब्राहिम लोदी को धार्मिक रूप से कट्टर और दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णु होने की बात कही गयी है। निःसंदेह ये शासक मुसलमान थे और इस्लाम में उनकी आस्था थी। लेकिन मुसलमान होने के कारण उन्होंने इस्लाम के लिए कभी राजगद्दी को खतरे

में नहीं डाला परन्तु राजगद्दी तथा उसकी रक्षा के लिए इस्लाम को अवश्य क्षति पहुंचायी और उसके आदर्शों, सिद्धांतों की बार बार अवहेलना की। इनमें से कइयों ने इस्लामी शुद्धतावाद का व्यापकता में निषेध किया और समाज पर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के प्रभुत्व को संरक्षण दिया। इन बादशाहों को जिस व्यक्ति या जनगण से अपनी सत्ता को खतरा महसूस हुआ, उन्होंने उसके दमन का भरसक प्रयास किया। इनमें हिन्दू भी हो सकते थे और मुसलमान भी, यहां तक कि निकट परिजन भी। दूरगामी परिणामों वाली इतिहास की इन महत्वपूर्ण घटनाओं को वास्तविक संदर्भों से काट कर उल्लेख किये जाने के पीछे क्या उद्देश्य हो सकता है, इसे आसानी से समझा जा सकता है।

यहां इस पुस्तक के कुछ अन्य उदाहरण प्रस्तुत हैं -

“...परन्तु इन गुणों के साथ-साथ उनमें अनेक दोष भी थे। सिकन्दर लोधी अन्य धर्म को माननेवालों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था, उनके प्रति कठोरता का व्यवहार करता था और उनके पूजा-पाठ पर उसने प्रतिबंध लगा दिया था।” (पृ. 65)

“सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई इब्राहिम लोदी दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। वह अत्यंत क्रोधी, जिद्दी, घमण्डी और निर्दयी शासक था। उसका व्यवहार अमीरों के प्रति अच्छा न था। उसके दरबार में अमीरों को चुपचाप सीधे खड़ा रहना पड़ता था जिसके कारण स्वाभिमानी अफगान सरदार उससे अप्रसन्न हो गये।” (पृ. 65)

“सिद्धांत के रूप में दिल्ली के सुल्तान इस्लाम धर्म के प्रधान खलीफाओं के प्रतिनिधि के तौर पर भारत में शासन करते थे। पर वास्तव में ये सुल्तान शक्तिशाली स्वेच्छाकारी और निरंकुश थे। इसलिए खलीफा सुल्तान के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर पाते थे। बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे सुल्तानों ने खलीफा से स्वतंत्र रहकर शासन करने की चेष्टा की। परन्तु इस बंधन से स्वतंत्र रहकर भी वे दिल्ली के कुछ उलेमा के प्रभाव के कारण इस्लाम धर्म के नियमों का पालन करते हुए ही शासन करते थे। इल्तुतमिश, फिरोजशाह तुगलक, सिकन्दर लोदी इसी प्रकार के सुल्तान थे।” (पृ. 68)

“सुल्तान के शासन का प्रमुख उद्देश्य साम्राज्य विस्तार और शत्रुओं का दमन करना था, इसी कारण वे अपनी प्रजा की भलाई के कार्यों की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाते थे।”

“दिल्ली के सुल्तान बड़ी शान ओ शौकत में रहते थे। वे अपने रहनेकेलिए अत्यंत सुन्दर राजमहल बनवाते थे। दिल्ली की कुतुब मीनार, अलाई दरवाजा, गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा, फिरोजशाह का दुर्ग, कोटला तुगलकाबाद का किला, लोदी सुल्तानों के मकबरें, जौनपुर की मस्जिद और बीजापुर का गोल गुम्बद आदि इस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं।” (पृ. 81)

ऊपर के उदाहरणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि बच्चों के लिए इतिहास रचते हुए सल्तनतकाल के बादशाहों की छवि गढ़ने में तथ्यों को मनमाना रूप दिया गया है। यदि सुल्तान अपने साम्राज्य के विस्तार और युद्धों में व्यस्त रहते थे, तब फिर उन्हें ऐश्वर्य और विलास में लिप्त रहने का समय कब मिलता था। फिर साम्राज्य का विस्तार क्या हिन्दू - मुस्लिम सभी राजाओं का परम लक्ष्य नहीं रहा? यदि वे धर्म के मानने वाले थे तो स्वेच्छाचारी कैसे हो सकते थे। यदि विध्वंस में ही उनका विश्वास था तो उनके काल में निर्माण के बड़े कार्य कैसे संभव हुए। सीमित संदर्भों वाले ही सही पर भूमि व

समाज सुधार के कुछ कार्य कैसे हो पाये। उनका साम्राज्य क्यों फैलता गया। इतिहास में ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं। जब अनेक या कुछ सुल्तानों ने बहुत सादा जीवन बिताया। राजकीय कोष से भी कुछ नहीं लिया। परस्त्री, शराब तथा लूट के सामान को हराम समझते थे। परन्तु बच्चों को और उसके बाद बड़ों को भी पढ़ाये जाने वाले इतिहास में इन तथ्यों का उल्लेख नहीं हो पाया है। उल्लेख हुआ भी है तो आधा अधूरा। उनमें अवश्य ही सामंतों की तत्कालीन कमजोरियां भी थीं लेकिन उन्होंने शिक्षा के विस्तार में, अपने समय के विद्वानों, शायरों, इतिहासकारों, कलाकारों, हकीमों, खगोल शास्त्रियों योद्धाओं और संगीतकारों को संरक्षण देने में भी रुचि ली। यदि उन्होंने अपने रहने के लिए राजमहल बनवाये थे तो उनके द्वारा बनवायी गयी इमारतों में कुछ किलों, मकबरों, मीनारों, मस्जिदों और फाटकों के खण्डहर या खण्डहर जैसी इमारतें ही क्यों शेष हैं? उन राजमहलों के अवशेष कहां हैं जिन्हें उन्होंने अपने लिए आवास बनवाये थे। शत्रुतावश उनका नामोनिशान मिटा दिया गया या फिर वो सिरे से थे ही नहीं। इस बारे में विचार किये जाने की आवश्यकता है कि जब राजस्थान, मैसूर तथा अन्य दक्षिणी राज्यों के राजाओं महाराजाओं के महल पूरी भव्यता के साथ बचे हुए हैं तब फिर सुल्तानों मुगलों नवाबों के महल क्यों नहीं?

इससे यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि सुल्तानों और बादशाहों ने सब अच्छा ही अच्छा किया या उनमें से अनेक ने विलासतापूर्ण जीवन नहीं बिताया। यकीनन उन्होंने सामाजिक गतिविधियां बढ़ायीं, रोजगार के नये अवसर मुहैया कराये, शिल्पियों को कौशल दिखाने और पैसा कमाने का अवसर दिया, भारतीय ग्रंथों के अरबी, फारसी अनुवाद कराये लेकिन लोगों को जातीय दमन से बचाने, परम्परा से गरीब लोगों की गरीबी दूर करने, स्त्रियों की स्थिति बेहतर बनाने तथा सरकारी कारिन्दों की जोर-जबरदस्ती को रोकने की दिशा में ठोस उपाय नहीं किये। व्यापार तथा कल कारखानों की स्थापना के अवसरों में अवश्य वृद्धि हुई लेकिन मोटै तौर पर समाज का ढांचा बहुत नहीं बदला -

‘इस प्रकार सल्तनतकाल का नागरिक प्रशासन उसी प्रकार चलता रहा, जैसे पहले था और आधारभूत परिवर्तन लाने का कोई प्रयास नहीं किया गया। पदों के नाम बदलकर उन्हें फारसी नाम अवश्य दे दिये गये, क्योंकि नये शासक इन नामों से अधिक परिचित थे। ग्राम स्तर पर और परगनों में भी काफी सीमा तक अनेक अधिकारी आज भी हिन्दू ही थे और प्रशासन की कुशलता कुछ अंशों में संचार व्यवस्था पर निर्भर करती थी। इब्न बतूता ने तुगलकों की यातायात व्यवस्था और डाक सेवा की अत्यधिक सराहना की है, क्योंकि एक यात्री होने के कारण इसका उसे निजी ज्ञान था।’ (रोमिला थापर भारत का इतिहास 265)



सातवीं कक्षा में ही बच्चे को मुगल साम्राज्य के पतन की वजह इस तरह बतायी गयी है-

“मुगलकालीन समाज ने पश्चिमी विज्ञान तथा तकनीकी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। विभिन्न नवीन अनुसंधानों में भी भारतीयों ने अधिक रुचि नहीं ली। यहां तक कि घड़ी जैसी उपयोगी वस्तु की ओर भी उस समय के लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। इस प्रकार अन्य देशों की तुलना में भारत के सामाजिक विकास का कक्रम अत्यंत धीमा रहा। अतः इसकी उन्नति अवरुद्ध हो गयी तथा सामाजिक व चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण मुगल अपनी रक्षा करने में असफल रहे। अन्त में उन्हें अपने शासन से हाथ धोना पड़ा और उन्नतिशील अंग्रेजों ने यहां अपनी सत्ता स्थापित कर ली।” (पृ. 172)

मुगल साम्राज्य के पतन का यह अधूरा चित्र है। मुगल भी अपने साथ नई टेक्नालोजी, ज्ञान की नई धाराएं, कला का भिन्न अनुभव, सृजन का अलग आवेग, सामाजिक अनुशासन और राजकाज की अभिनव अवधारणा अपने साथ लाये थे। भारतीय समाज ने उनका लाभ भी उठाया। तुर्कों द्वारा लायी गयी टेक्नॉलोजी और ज्ञान की धाराएं व प्रशासनिक अनुभव उन्हें सल्तनतकाल से विरासत में मिला थी। पश्चिमी टेक्नालोजी से भी भारतीय समाज का झीना झीना सा ही सही पर परिचय आरंभ हो गया था। इसका श्रेय मुगल शासकों को ही था। सूफ़ी संतों के आन्दोलन ने सामाजिक जीवन में नयी हरकत (ताप) भरी थी। मुगलों ने शिक्षा और प्रशासन का अधिक चुस्त ढांचा खड़ा किया। साम्राज्य का विस्तार किया। जीवन में रस की भूमिका के महत्व को स्वीकार किया। फिर भी सामाजिक विकास की गति का धीमा होना नहीं बल्कि राज दरबार की आंतरिक फूट, पारिवारिक झगड़े, केन्द्रीय सत्ता का कमजोर हो जाना, अंग्रेजों की गुप्त साजिशें तथा स्वयं मुगलों में भारत पर राज करने की इच्छा शक्ति का लडखडा जाना था। औरंगजेब के बाद के बादशाहों में सामंती बुराइयां जोर पकड़ गयी थीं। सही अर्थों में मुगल साम्राज्य के पतन का श्रेय अंग्रेजों की उन्नतिशीलता को नहीं बल्कि उनकी कुटिलता, धोखाधड़ी तथा विश्वासघाती नीतियों को जाता है। अजब विडम्बना है कि मुसलमान बादशाहों ने भारत में अपने साम्राज्य मैदानों की लड़ाइयों से कायम किया जबकि अंग्रेजों ने धोखे और कपट से। मुसलमान भी अपने साथ नई टेक्नालोजी तथा प्रशासनिक ढांचा लाये थे परन्तु उन्हें धार्मिक उद्देश्यों वाला उन्मादी लड़ाकू कहा गया और अंग्रेजों को उन्नतिशील।

हरबंस मुखिया ने ठीक ही कहा है कि हमारे देश में स्वाधीनता के बाद भी अंग्रेजों को प्रसन्न करने वाला इतिहास लिखा जाता रहा। वह उसी आवेग से विघटनकारी उद्देश्यों के काम कभी आ सकता है।

जैसे कि ये पंक्तियां - जिनमें ऊपरी तौर पर कुछ भी गलत दिखायी नहीं पड़ता -

“शिवाजी एक महान राष्ट्र प्रेमी एवं राष्ट्र निर्माता थे। उनका दृष्टिकोण उदार तथा मानवीय व्यवहार उच्चकोटि का था। शासन तथा सेना के उच्च पदों पर हिन्दू तथा मुसलमान समान रूप से नियुक्त किये जाते थे। सभी धर्मों के प्रति शिवाजी उदार थे।”

लेकिन क्या सल्तनत तथा मुगलकाल में सेना व प्रशासन के उच्च पदों पर हिन्दू और मुसलमान दोनों की साझेदारी नहीं रही। इस संबंध में प्रो. सतीश चन्द्र के आंकड़े चौंकाने वाले हैं।

“औरंगजेब के शासनकाल के उतरार्द्ध में उच्च पदों पर आसीन हिंदुओं की संख्या पहले के किसी भी समय की तुलना में अधिक थी। यह संख्या अगर शाहजहां के शासन के दौरान 24 प्रतिशत थी तो 1689 में 33 प्रतिशत तक पहुंच चुकी थी।

### हमारा इतिहास और नागरिक जीवन- भाग 3

सन् 1977 में उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग की पाठ्य पुस्तक तैयार करने वाली समिति ने महसूस किया कि इतिहास राजाओं उनके वंशों, उनके द्वारा लड़ी गयी लड़ाइयों और बनाई गयी इमारतों, उनके प्रतिशोधों और पराक्रमों का ब्यौरा मात्र नहीं है। आठवीं कक्षा के छात्रों के लिए इतिहास की पुस्तक तैयार करते हुए इसके लेखकों ने शिक्षकों से अनुरोध किया कि-

“इतिहास शिक्षण की अभिनव प्रवृत्तियों के अनुसार अब राजवंशों के विवरणों तथा राजनीतिक वर्णनों की अपेक्षा देश के विभिन्न भागों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों और संस्कृति के विभिन्न पक्षों के विकास के अध्ययन पर अधिक बल देना अपेक्षित है। समग्र मानव जाति के विकास के परिप्रेक्ष्य में विशेषतः भारतीय समाज के विकास का सम्यक बोध कराना शिक्षक का प्रमुख दायित्व है।”

आठवीं कक्षा से इतिहास का शिक्षण नया मोड़ लेता है। आधुनिक काल का शिक्षण यहीं से आरंभ होता है।

‘भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना’ इसका पहला अध्ययन है। इससे पहले ‘पुनरावलोकन’ में मुस्लिम बादशाहों के लिए आम तौर पर वही विशेषण प्रयोग किये गये हैं जो सातवीं कक्षा के विभिन्न अध्यायों में इस्तेमाल किये जाते रहे हैं। टीपू सुल्तान के संबंध में एक नये विशेषण ‘महत्वाकांक्षी’ की अवश्य वृद्धि हुई है। इस पुस्तक के अध्याय तीन में ‘अवध’ पर अंग्रेजों के प्रभुत्व का विवरण देते हुए बताया गया है -

“हमें यह ज्ञात है कि अवध के नवाब अंग्रेजों के सदैव हितैषी

रहे। आवश्यकता पड़ने पर धन-जन से उन्होंने अंग्रेजों की मदद की। इसके विपरीत 1856 में गर्वनर जनरल लार्ड डलहौजी ने तत्कालीन नवाब वाजिद अली शाह पर कुशासन और अकर्मण्यता का आरोप लगाकर अवध राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। नवाब को नजरबन्द करके कलकत्ता में रखा गया तथा जीवन निर्वाह के लिए उसे 12 लाख रुपये सालाना की पेंशन दे दी गयी।”

यहां न केवल तथ्यों को तोड़ा मरोड़ा गया है बल्कि गलत जानकारीयां भी दी गयी है। अवध के सभी नवाब अंग्रेजों के हितैषी नहीं थे। उन्हें अपनी सत्ता बचाने के लिए मजबूरन अंग्रेजों से संधि करनी पड़ती थी। यद्यपि उनका यह कृत्य जनता के साथ विश्वासघात माना जायेगा। फिर भी ऐसे भी चंद नवाब हुए हैं जिन्होंने इन शर्मनाक संधियों को मानने तथा अंग्रेजों के इशारों पर चलने से इंकार किया और जो अंग्रेजों के प्रभुत्व के विरुद्ध थे। परन्तु इस अध्याय में इस पक्ष का उल्लेख सरसरी तौर पर भी नहीं किया गया है। वाजिद अली शाह को नजरबन्द करके नहीं ले जाया गया था बल्कि वह डलहौजी की अन्यायपूर्ण सत्ता हड़प की कार्यवाही की शिकायत मलिका विक्टोरिया से करने के वास्ते कलकत्ता से लन्दन रवाना होने के लिए लखनऊ गये थे। कलकत्ता पहुंचते ही अवध में विद्रोह हो जाने के कारण, मिलीभगत के संदेह में उन्हें नजरबंद कर दिया गया। उनकी पेंशन बहाल होने में काफी समय लगा जिस पर उन्हें आयकर भी देना पड़ा।

इस एक उदाहरण से ही यह तथ्य हाथ आता है कि इतिहास के शिक्षण में पुरानी या पारम्परिक पद्धति को छोड़ने की आवश्यकता अनुभव करने के बावजूद दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं आया। इतिहास को पढ़ाने-पाठ्य सामग्री की प्रस्तुति का जो ढर्रा ब्रिटिश शासन काल में प्रचलित था, आजादी की पचासवीं वर्षगांठ मना लेने के बावजूद उसमें कोई खास फर्क नहीं पडा।

“सेमीनार’ के अंक 364 में जो सन् 1990 के कुछ पहले आया, इतिहास के मिथकीकरण पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए प्रचलित दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव किया गया।

“अतः इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण तभी सचमुच और तर्कसंगत रूप में धर्मनिरपेक्ष हो सकता है, जबकि हम स्वयं इतिहास के प्रति अपना संपूर्ण दृष्टिकोण बदल दें और व्यक्तिगत रूप में शासक वर्ग के इतिहास की जगह समाज के इतिहास का अध्ययन करें। हमें जिस बात का अध्ययन करने की जरूरत है, वह है समूचा समाज, उसका संगठन और स्वरूप, जिनके कारण एक ही समय नहीं तो फौरन आगेपीछे सांप्रदायिक सामंजस्य और असामंजस्य की अर्न्तविरोधी प्रक्रियाएं घटित होती हैं। इस सामंजस्य और संघर्ष का

क्षेत्र आदि। यदि हम समाज का अध्ययन करते हैं तो उस दशा में हमें उसके एक पहलू को उभारने के लिए दूसरे को दबाने की जरूरत नहीं पड़ती, जैसा कि साम्प्रदायिक और राष्ट्रवादी दोनों करते हैं।”

इस पुस्तक के पृष्ठ 72-79 तथा 80 पर भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रसार तथा 1857 के महासंग्राम के बारे में भी गलत जानकारीयां दी गई हैं -

“इस प्रकार से ब्रिटिश शासकों ने जाति नियम की उपेक्षा की तथा सेना, जेल, रेलगाड़ी के डिब्बों आदिमें जाति का ख्याल नहीं रखा गया। रुढ़िवादी विचारधारा वाले लोगों में इन परिवर्तनों से काफी असंतोष था इस प्रकार लोगों को धर्म के नाम पर अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ा गया। इससे लोगों में असंतोष बढ़ा और क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार होने लगी।”

इन पंक्तियों में पाठ्य पुस्तक तैयार करने वालों की यह इच्छा साफ नजर आती है कि छात्रों को बताया जाये कि 1857 की क्रांति अंग्रेजों की दमनकारी अत्याचारपरक, लूटवादी नीतियों के विरुद्ध विदेशी गुलामी से स्वतंत्रता पाने की गहरी आकांक्षा के तहत नहीं बल्कि अंग्रेज द्वारा आधुनिक सुविधाओं के प्रचलन के कारण हुई, जिसमें रुढ़िवादी विचारधारा वाले लोगों ने अगुवाई की। इस इच्छा की दो मंशाएं हो सकती हैं एक तो अंग्रेजों की बिगाड़ी छवि का सुधारा जाये, दूसरी यह कि क्रान्ति में नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वाले लोगों की छवि बिगाड़ी जाये। क्रान्ति में जन भागीदारी के सच को संदिग्ध बना दिया जाये। इतिहास की महान घटनाओं को निहित स्वार्थ के लिए मनमाना रूप देने की यह विलक्षण और शर्मनाक मिसाल है जिसके सांप्रदायिक सरोकार भी हैं। 1857 के संग्राम से संबंधित घटनाओं को मनचाहा रूप देने की कोशिश इन पंक्तियों में भी देखी जा सकती है -

“अवध की राजधानी लखनऊ में क्रान्ति का नेतृत्व नवाब वाजिद अली शाह की बेगम हजरत महल ने संभाला। क्रांतिकारियों ने नवाब के पुत्र बिल्कीस कदर (बरजीहस कदर) को नवाब घोषित कर दिया और रेजीडेन्सी का घेरा डाल दिया। यह घेरा कई महीनों तक चलता रहा। बेगम हजरत महल ने स्वयं सेना का संचालन किया।”

जबकि घटनाक्रम बताता है कि लखनऊ में सबसे ज्यादा मोर्चों पर फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्लाह शाह ने विद्रोहियों की अगुवाई की। रेजीडेन्सी के घेराव में भी वह आगे आगे थे। उनके साथ शाही सेना के सिपाही, अंग्रेजी सेना के हिन्दुस्तानी सैनिक, ग्रामीण जनता, शहरी अवाम और दूसरे तबकों के लोग शामिल थे। बेगम हजरत महल भी कुछ मोर्चों पर गयीं, किन्तु उनके सरोकार

बहुत सीमित थे । उन्हें नाना साहब तथा अन्य राजाओं का समर्थन प्राप्त था ।

“उत्तर और मध्य भारत में हर जगह पर सिपाहियों का यह गदर जनता के विद्रोह में बदल गया । आम आदमी कुल्हाड़ी भाले, तीर धनुष लाठी दराती और देशी बन्दूकों से लडा । विशेष रूप से आज के उतर प्रदेश और बिहार में किसानों और कारीगरों ने व्यापक पैमाने पर उस आंदोलन में हिस्सा लिया और उन्हीं की वजह से विद्रोह को वास्तविक शक्ति मिली थी । एक अनुमान के अनुसार अंग्रेजों से लड़ते हुए अवध में डेढ़ लाख और बिहार में एक लाख नागरिक शहीद हुए थे ।”

(स्वतंत्रता संग्राम नेशनल बुक ट्रस्ट पृ. 34)

इसी प्रकार बीसवीं सदी की शुरुआत से थोड़ा पहले आरंभ हुए राष्ट्रीय आन्दोलन तथा तत्संबन्धी घटनाक्रम का विवरण देते हुए अनेक संदर्भ की अनदेखी की गयी है और घटनाओं स्थितियों के वास्तविक परिप्रेक्ष्य उभारने के अपेक्षित प्रयास नहीं किये गये । 1857 के महा संग्राम की विफलता के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों, विशेष रूप से मुसलमानों के व्यापक दमन, नौकरियों में उनकी नियुक्ति पर प्रतिबन्ध, उनकी जायदादों की जब्ती, सरकारी सेवा के लिए अंग्रेजी ज्ञान की अनिवार्यता, इन सबकी प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में अंग्रेजों, उनकी शिक्षा भाषा, संस्कृति से नफरत का बढ़ते जाना, ऐसे में उलेमा की साम्राज्यवाद विरोधी धार्मिक तहरीक का जोर पकड़ लेना, परिणतिस्वरूप मुसलमानों का बहुत हद तक अपने खोल में कैद हो जाना? ऐसी स्थिति है जिसे समझे बिना बाद के घटनाक्रम को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता, भले वह मुस्लिम लीग की स्थापना हो, पृथक निर्वाचन की मांग हो, उनका सामाजिक पिछड़ापन हो, राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी द्रुत भरी शिरकत हो या अन्य घटनाएं, जैसे कि तहरीकें खिलाफत या अलग देश का लीगी आन्दोलन । यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि 1857 के संग्राम की व्यापकता वाले दिनों में अधिकांश राजाओं नवाबों ने अंग्रेजों का साथ दिया था, मात्र अपने हितों की रक्षा के लिए । बीसवीं सदी यानी राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान घटित अनेक घटनाओं पर जिसका प्रभाव पड़ा ।

1857 के महासंग्राम की त्रासद विफलता के साथ ही भारत में क्षयग्रस्त मुस्लिम सामंतवाद के वैभव के लाजिमी अवसान की जो व्यापक प्रतिक्रिया मुस्लिम उच्चवर्ग, मध्यवर्ग में तथा धार्मिक क्षेत्रों में हुई बाद के सालों में मुस्लिम मनोविज्ञान को बनाने में इनकी भी अपनी अहम भूमिका है । इस पूरे घटनाक्रम ने हिन्दू मन पर भी अपने प्रभाव छोड़े । 1857 के बाद हिन्दू मनोविज्ञान के निर्माण में इन प्रभावों की सक्रियता से इंकार नहीं कर सकते ।

इस पुस्तक के अध्याय 7 ‘नवजागरण’ में भारतीय समाज की कुरीतियों को दूर करने में राजाराम मोहन राय को प्रमुख स्थान दिया गया है । जो किसी हद तक सही भी है । इनके अतिरिक्त और भी कई समाज सुधारक हुए । लेकिन भारतीय समाज की सबसे बड़ी कुरीति जाति व्यवस्था में दो-एक समाज सुधारकों को छोड़ कर अधिकांश ने कोई संघर्ष नहीं किया । स्वयं राजाराम मोहन राय सती प्रथा के प्रबल विरोधी होते हुए बहुत बड़े कर्मकाण्डी थे । दूसरी ओर करोड़ों मुसलमानों में, जो भारतीय समाज का ही अंग है, व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों को दूर करने में शाहबली उल्लाह, विभिन्न उलेमा, वहाबी तहरीक व सूफियों ने जो प्रयास किये उनकी अनदेखी की गयी है । इन प्रयासों का निश्चित ही हिन्दुओं पर भी प्रभाव पड़ा । पृष्ठ 111 पर मुस्लिम समाज में चले सुधार आन्दोलनों का विवरण देते हुए बताया गया है कि मुस्लिम उच्च वर्ग तथा धार्मिक नेता अंग्रेजों से इस कारण असंतुष्ट थे क्योंकि अंग्रेजों ने उन्हें प्रभावहीन तथा शक्तिहीन कर दिया था ।

जबकि वास्तविकता इसके बहुत हद तक विपरीत है । तथ्य यह है कि अंग्रेजों से मुस्लिम मध्य वर्ग अधिक असंतुष्ट था । अंग्रेजों ने सबसे ज्यादा उन्हीं के हितों को चोट की थी । जब जागीरें बहाल हुईं, तब उच्च वर्ग की शक्ति पूरी तरह न सही पर वापस आ गयी । पर मध्य वर्ग का संघर्ष अनवरत जारी रहा । रही उलेमा की बात, तो उनमें से कुछ को, या उनके शिक्षा संस्थानों को दरबार से मिल रहा संरक्षण भले समाप्त हो गया हो, परन्तु अंग्रेजों ने अपने गलत आचरणों व नीतियों से मुस्लिम समाज में उनके प्रभाव को बढ़ाने का काम किया । देवबन्द जैसा मजहबी तालीम का आन्दोलन अंग्रेजों की गलतियों के कारण ही शक्तिशाली हुआ । जिसने खास दौर में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का रूप धारण किया । दरअसल मुसलमानों के सामाजिक विकास में अंग्रेजों ने अपनी गतिविधियों से बड़ी बाधाएं पैदा की जिसे कालांतर में धार्मिक कट्टरता माना गया ।

बाद के अध्यायों में मुस्लिम लीग के उदय, विस्तार और उसकी गतिविधियों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन सामाजिक संदर्भों के प्रकाश में मुसलमानों के हालात की विवेचना और सामाजिक संघर्षों के उल्लेख से बचा गया है । इस कारण वश मुस्लिम लीग की गतिविधियों के सभी परिप्रेक्ष्य सामने नहीं आ सके हैं । जिससे संदेह की स्थिति बनती है ।

पृष्ठ 147 पर बताया गया है कि 2 सितम्बर 1946 को अंतरिम सरकार के विरोध में मुसलमानों ने विरोध दिवस मनाया, जबकि यह सिर्फ मुस्लिम लीग का आव्हान था । मुसलमान इसे मुद्दे पर विभाजित थे, जिनमें करोड़ों मुसलमान कांग्रेस के साथ थे ।◆